

# बस एक याद

लेओनीद अन्द्रेयेव



# बस एक याद




शुभम ट्रेड

# बस एक याद

## बस एक था

लेओनीद अन्द्रेयेव



કનુરાગ ટ્રસ્ટ

# शास्त्र कप्र सङ्घ

तर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रु. 20.00

प्रथम संस्करण : 2004

पुनर्मुद्रण : जनवरी 2010

प्रकाशक

अनुराग ट्रस्ट

डी - 68, गिरासामगर

लखनऊ - 226020

आवर्ण एवं रेखांकन :

रामदाबू

लेआर टाइप सेटिंग : कम्प्युटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन

मुद्रक : वाणी ग्राफिकल, अलीगंज, लखनऊ



## कहानी और इसके लेखक के बारे में

लेओनिद निकोलायेविच अन्द्रेयेव 19वीं सदी के अन्त और 20वीं सदी के एक प्रसिद्ध रूसी लेखक थे। उनका जन्म 1871 में हुआ था और निधन 1919 में हुआ। अन्द्रेयेव ने ज्यादातर बड़ों के लिए ही कहानियाँ और उपन्यास लिखे, लेकिन उनकी दो कहानियों 'बेर्गामोत' और 'गेरास्का' (1898) तथा 'बस एक याद' (1899) आज तक रूसी बच्चों के पढ़ने योग्य पुस्तकों की सूची में अवश्य शामिल की जाती हैं।

बचपन में अन्द्रेयेव को फेनिमोर कूपर, माइन रीड, एडगर एलन पो की पुस्तकें सबसे ज्यादा पसंद थीं। 'बस एक याद' कहानी रेड इंडियनों के जीवन पर रोचक उपन्यास या जासूसी कहानी जैसी तो बिल्कुल नहीं है। यह एक गरीब बच्चे की नीरस-बेहाल ज़िन्दगी में सहसा प्रवेश करने वाले आज़ादी और खुशियों के चन्द दिनों की मार्मिक कहानी है जो पाठक के हृदय पर गहरी छाप छोड़ती है।

कहानी का मुख्य पात्र एक पितृहीन गरीब बच्चा पेट्का है, जो एक नाई के सैलून में नौकर है। डाँट-फटकार और दिन भर हुक्म बजाते हुए दौड़ते रहने की नीरस, उबाऊ ज़िन्दगी ने पेट्का को लेखक के शब्दों में "बूढ़ा हो गया बौना-सा" बना दिया है। पेट्का की माँ नादेज़दा त्सरीत्नो नामक सुन्दर देहाती इलाके में रहने वाले एक अमीर की हवेली में नौकरानी है। पेट्का के जीवन में अचानक बहार का एक झोंका तब आता है, जब अचानक एक दिन उसकी माँ उसे कुछ दिनों के लिए अपने साथ ले जाने के लिए आती है और नाई से इसकी इजाजत भी मिल जाती है। रेलगाड़ी की यात्रा से ही पेट्का के जीवन में ऐसे दिनों की शुरुआत हो जाती है, जो उसे स्वप्न-सरीखे सुन्दर प्रतीत होते हैं। यहाँ-वहाँ घूमते, मौज करते, मछली मारते पेट्का के छुट्टी के दिन मानो पंख लगाकर उड़ते हैं। सुन्दर प्रकृति के सान्निध्य में वह सैलून की नीरस-बोझिल ज़िन्दगी को एकदम भूल-सा गया होता है कि उसके वापस लौटने का दिन आ जाता है। भारी मन से पेट्का उसी मनहूस दिनचर्या में वापस लौट जाता है।

खुशियों से भरी दुनिया में चन्द दिन गुज़ारकर उसी कठोर, निर्मम, नीरस जीवन में वापसी की पेट्या की बेबसी पाठक को झकझोरकर रख देती है। पेट्का को आज़ादी और आनन्द के जो



चन्द दिन नसीब हुए थे, उनकी याद जिस तरह पेटका के मन में सदा के लिए बस जाती है, उसी तरह वे दिन पाठक के हृदय पर भी गहरी छाप छोड़ते हैं। कहानी सहसा हमारा ध्यान पेटका की ही तरह सैलूनों, ढाबों, दुकानों और घरों में काम करने वाले उन अगणित छोटे-छोटे बच्चों की तरह खींचती हैं, जिनके लिए बचपन की शरारतों का, खेल-कूद और मौजमस्ती का, प्रकृति और सौन्दर्य का कोई मतलब नहीं होता। उनसे उनका बचपन छीन लिया गया होता है। जिन बच्चों को कम से कम पढ़ने-लिखने, खेलने-कूदने के अवसर मिलते हैं, उन्हें ऐसे बच्चों के बारे में ज़रूर सोचना चाहिए जिनका बचपन उनसे छीन लिया गया है। जब बच्चे ऐसा सोचेंगे तो फिर यह भी ज़रूर सोचेंगे कि इतनी तरक्की और खुशहाली के बावजूद हमारे समाज में आखिर ऐसा क्यों है? भरपूर मेहनत करने वालों को भरपेट रोटी, रहने की जगह, दवा-इलाज की सहूलियत क्यों नहीं मिल पाती, उनके बच्चों को स्कूलों के बजाय कारखानों-ढाबों-घरों में काम क्यों करना पड़ता है। समाज में भ्रष्टाचार, मुफ्तखोरी, असमानता, भेदभाव क्यों है? बच्चे इन सवालों पर बड़ों से बेहतर ढंग से सोच सकते हैं, या ज्यादा आसानी से उन्हें इन सवालों पर सोचने के लिए प्रेरित किया जा सकता है क्योंकि स्वार्थ और अन्य सामाजिक बुराइयों से उनका मन बड़ों के जितना कलुषित नहीं हुआ रहता है। बच्चे ही समाज का भविष्य हैं, इसलिए वे जब इन सवालों पर सोचेंगे तो कल का समाज ज़रूर बेहतर होगा, जिसमें पेटका जैसे तमाम बच्चों को उनका बचपन वापस लौटाया जा सकेगा।

इसी उम्मीद को तुर्की के महाकवि नाज़िम हिकमत ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है :

“हम खूबसूरत दिन देखेंगे बच्चों,

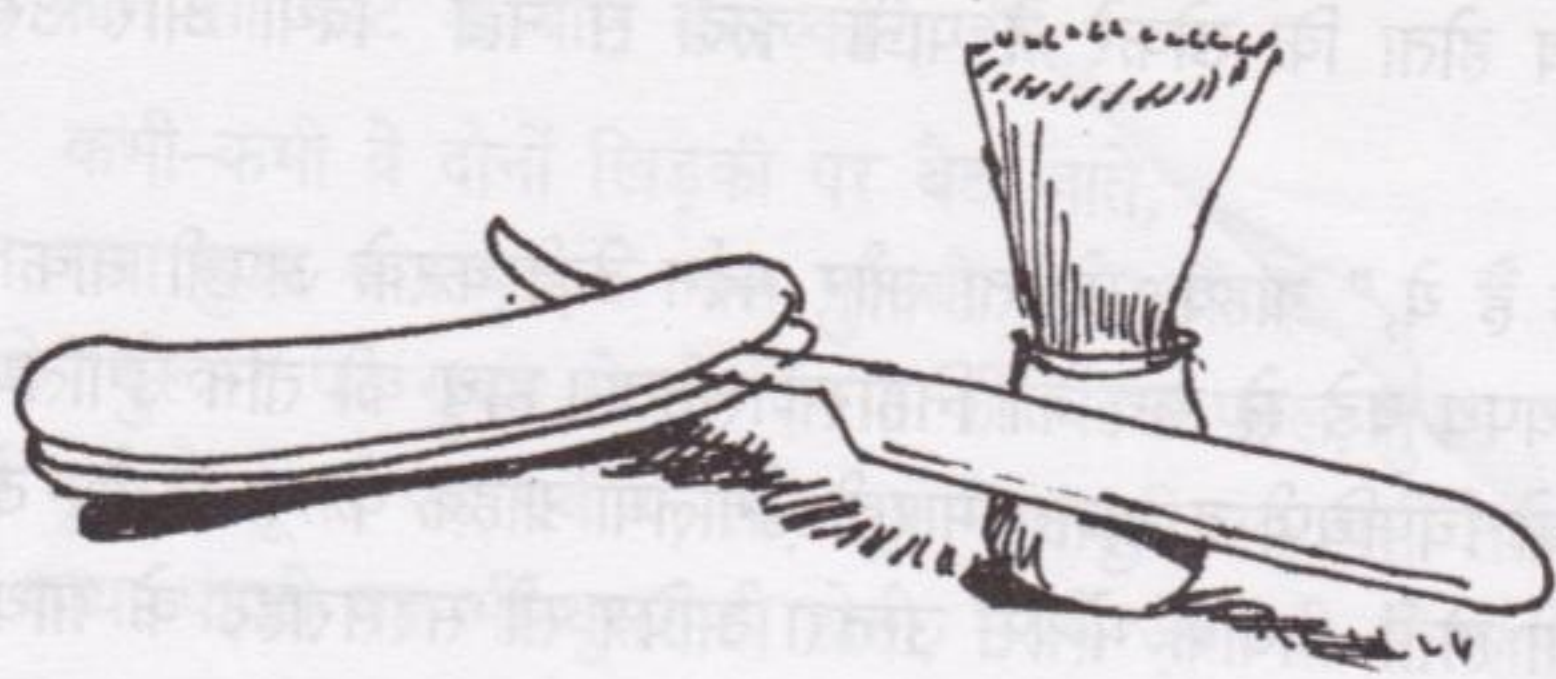
हम देखेंगे धूप के उजले दिन...

हम दौड़ाएंगे बच्चों, अपनी तेज़ रफ़्तार नावें

खुले समन्दर में,

हम दौड़ाएंगे उन्हें चमकीले-नीले-खुले समन्दर में...”





## बस एक याद

नाई ओसिप अब्रामविच ग्राहक की छाती पर मैला सा कपड़ा ठीक करता, उँगलियों से उसे कालर के पीछे घुसेड़ता और तीखी आवाज़ में चिल्लाता : “छोकरे, पानी !”

शीशे में अपना शक्ल निहारता ग्राहक देखता कि उसकी ठोड़ी पर एक और फुंसी निकल आई है और वह मुँह लटकाकर नज़र मोड़ लेता, जो सीधी छोटे से, दुबले-पतले हाथ पर पड़ती। यह हाथ कहीं एक ओर से बढ़ता और शीशे के पास टीन की कटोरी में गर्म पानी रख देता। जब ग्राहक नज़रें ऊपर उठाता तो उसे नाई का अक्स दिखाई देता—अजीब, टेढ़ा सा और दिखती उसकी धमकी भरी नज़र, जो वह नीचे किसी के सिर पर तेज़ी से डालता। साथ में नाई के होठों में बुदबुदाहट की हरकत होती। बुदबुदाहट सुनाई तो न देती, पर उसका मतलब साफ़ होता। अगर खुद नाई ओसिप अब्रामविच की जगह प्रकोपी या मिखाइला नाम का कोई शागिर्द उसकी हजामत कर रहा होता, तो बुदबुदाहट होती और अनिश्चित सी धमकी होती :

“ज़रा ठहर, बच्चू।”



इसका मतलब होता कि छोकरे ने पानी जल्दी से नहीं दिया और उसे सज़ा मिलेगी।

“इसी लायक हैं ये,” ग्राहक सोचता और गर्दन टेढ़ी करके अपनी नाक के ऐन पास पसीने से लथपथ बड़े से हाथ को निहारने लगता। हाथ की तीन उँगलियाँ फैली होतीं और बाकी दो चिपचिपी व खुशबू मारती उँगलियाँ ग्राहक के गाल और ठोड़ी का कोमल स्पर्श करती होतीं, जबकि भोथरा उस्तरा अप्रिय सी सरसराहट के साथ साबुन की झाग और दाढ़ी के सख्त बाल साफ़ करता।

जिस लड़के को सबसे ज़्यादा डाँट पड़ती थी उसका नाम था पेट्का और वह नाई की दुकान में काम करने वालों में सबसे छोटा था। दूसरा छोकरा निकोल्का पेट्का से तीन साल बड़ा था और जल्दी ही शागिर्द बनने वाला था। अब भी, जब कोई मामूली सा ग्राहक दुकान में आता और शागिर्दों को मालिक की अनुपस्थिति में काम करने में आलस लगता, तो वे निकोल्का को हजामत करने को भेज देते और यह देखकर हंसते कि उसे भारी-भरकम जमादार की टांड के बाल देखने के लिए पंजों के बल खड़ा होना पड़ता है। कभी-कभी ग्राहक चीखता-चिल्लाता कि उसके बाल खराब कर दिये और तब शागिर्द भी निकोल्का पर चिल्लाते। लेकिन ऐसा बहुत कम ही होता था, सो वह बड़ों की तरह बनता फिरता था : सिगरेट पीता था, दाँत भीचकर थूकता था, गंदी-गंदी गालियाँ देता था। पेट्का के सामने वह इस बात की भी डींग मारता था कि उसने वोद्का पी है, पर यह शायद झूठ ही था। शागिर्दों के साथ वह पड़ोस की गली में जोरदार लड़ाई देखने जाता था और जब वहाँ से हँसता-खेलता लौटता था, तो ओसिप अब्रामविच उसे दो थप्पड़ रसीद करता था : एक गाल पर एक।

पेट्का दस बरस का था। वह न सिगरेट पीता था और न वोद्का ही, गालियाँ भी नहीं देता था, हालाँकि उसे बहुत सी गालियाँ आती थीं और इन सब मामलों में उसे अपने साथी से ईर्ष्या होती थी।

जब दुकान में कोई ग्राहक न होता तो पेट्का और निकोल्का बैठकर बातें करते। ऐसे मौकों पर निकोल्का सदा भला बन जाता था और “छोकरे” को यह समझाता था



कि कौन सी काट के बाल कैसे काटे जाते हैं।

कभी-कभी वे दोनों खिड़की पर बैठ जाते, जहाँ मोम का बना औरत का आधा बुत रखा हुआ था। बुत के गाल गुलाबी थे। यहाँ बैठकर वे बुल्वार की ओर ताकते रहते। बुल्वार पर सुबह से ही ज़िंदगी की चहल-पहल शुरू हो जाती थी। बुल्वार के पेड़ धूल से धूसर पड़ गये थे, तेज़ धूप में उनकी एक पत्ती तक न हिलती और उनसे जो छाया पड़ती वह भी धूसर ही होती, उसमें ज़रा भी शीतलता न होती। सभी बेंचों

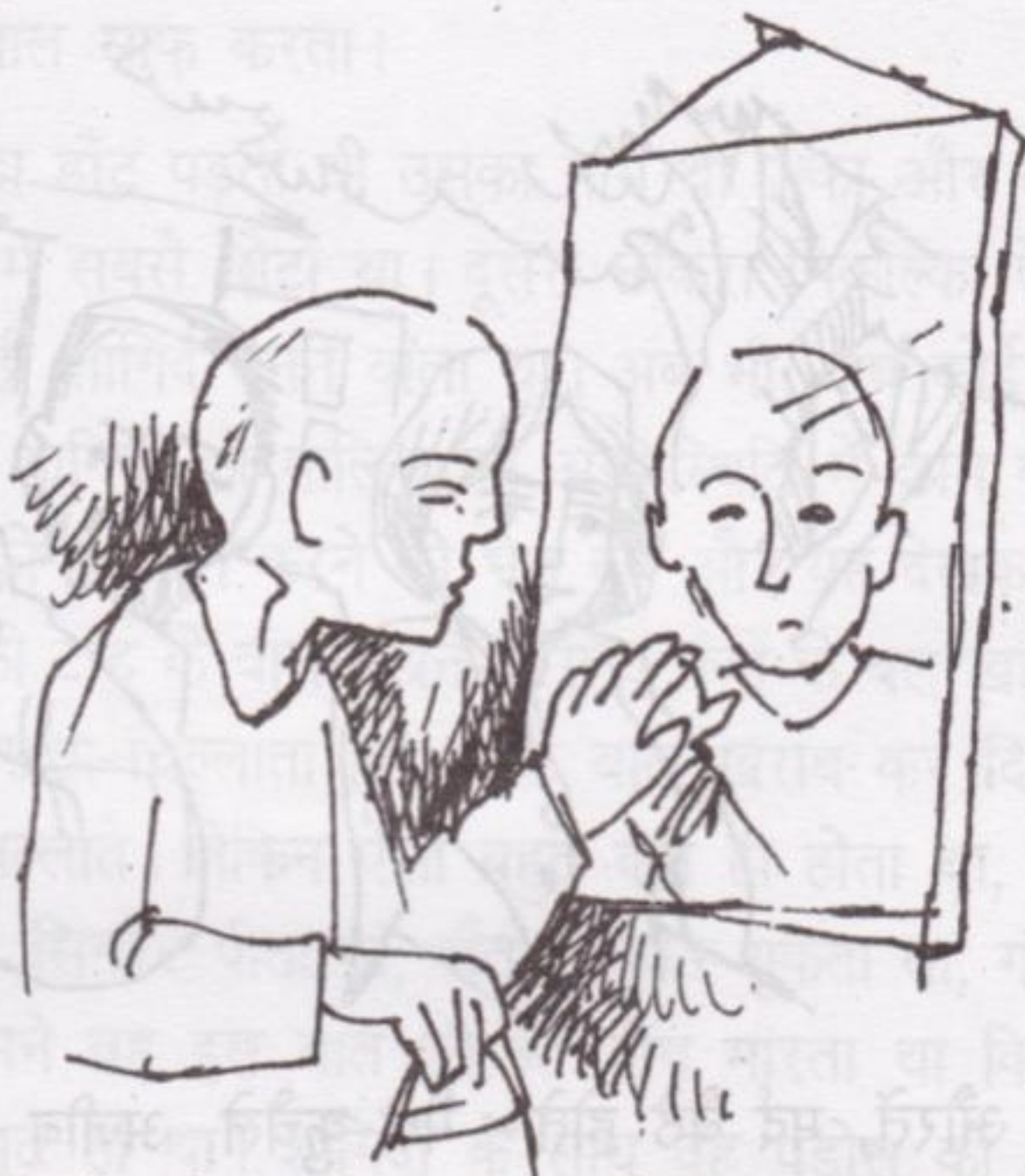


पर औरतें, मर्द बैठे होते—मैले-कुचैले, अजीब से कपड़े पहने हुए, औरतों के सिर पर कोई रुमाल नहीं; मर्दों के सिर पर कोई टोपी नहीं, मानो वे यहीं रहते हों और उनका कोई दूसरा घर ही न हो। अक्सर किसी का झबरीला सिर बेबस ही कंधे पर लुढ़क जाता और शरीर अनचाहे ही सोने की जगह ढूँढ़ता, तीसरे दर्जे की सवारी की तरह, जिसने एक सीट पर बैठे-बैठे ही हजारों किलोमीटर का सफ़र किया हो, पर लेटने को कोई जगह न थी। पगडंडियों पर नीली वर्दी पहने चौकीदार डंडा उठाए घूमता रहता था और देखता था कि कोई बेंच पर न लेट जाए, या घास पर न लंबा पड़ जाए, जो तेज़ धूप से सूख गयी थी, पर फिर भी इतनी नरम और ठंडी थी।



निकोल्का इनमें से कई लोगों के नाम तक जानता था। वह पेत्का को उनके बारे में तरह-तरह के किस्से सुनाया करता था और खीसें निपोरता था। पेत्का हैरान होकर सोचता था कि निकोल्का कितना अक्लमंद और निडर है, कि कभी वह भी उसके जैसा बन जाएगा। पर अभी तो वह कहीं और चला जाना चाहता था... बस यही एक ख्वाहिश थी उसकी।

पेत्का के लिए सभी दिन बिल्कुल एक जैसे थे। जाड़ा हो या गर्मी, उसे बस वही शीशे देखने को मिलते थे, जिनमें से एक में बाल पड़ा हुआ था और दूसरा टेढ़ा था। गंदी सी, धब्बेदार दीवार पर वही एक ही तस्वीर सदा टँगी रहती थी। सुबह, शाम, सारा दिन पेत्का के सिर पर एक ही कर्कश आवाज़ गूँजती थी : “छोकरे, पानी!” और वह पानी देता रहता था, देता रहता था। उसके लिए कोई छुट्टी या त्योहार न थे। इतवार को जब दूसरी दुकानों में कोई रोशनी न होती, नाई की



दुकान से रात गए तक सड़क पर तेज़ रोशनी गिरती रहती। वहाँ से गुज़रते लोग प्रायः दुकान के एक कोने में स्टूल पर गठरी बनकर बैठे दुबले-पतले लड़के को देखते, जो न जाने किसी सोच में डूबा होता या ऊँघ रहा होता। पेत्का बहुत सोता था; तो भी उसे हर समय नींद आती रहती थी और प्रायः ऐसा लगता था कि उसके चारों ओर जो कुछ भी है वह सच्चाई न होकर एक लंबा, अप्रिय सपना मात्र ही है। अक्सर उससे पानी बिखर जाता, उसे “छोकरे, पानी!” की कर्कश चीख ही सुनाई न देती। वह सूखता जा रहा था और उसके मुँडे सिर पर पपड़ी सी जमने लगी थी। ग्राहक इस दुबले-पतले लड़कों को घिन से देखते थे, जिसकी आँखों में सदा नींद भरी रहती, मुँह



अधखुला होता और गर्दन व हाथ बेहद गंदे। आँखों के पास और नाक के तले बारीक-बारीक झुर्रियाँ बन गयी थीं, मानो नुकीली सुई से बना दी गयी हों और इनके कारण वह बूढ़ा हो गया बौना सा लगता था।

पेट्का नहीं जानता था कि वह यहाँ ऊबता है या खुश है, पर उसका मन कहीं और चले जाने को होता था। उस जगह के बारे में वह कुछ नहीं कह सकता था कि वह कहाँ है



और कैसी है। जब उसकी माँ, नादेभदा बावर्चिन उससे मिलने आती, तो वह बिना किसी चाव के माँ की दी मिठाई खा लेता, उससे किसी बात की शिकायत न करता, बस इतना ही कहता कि वह उसे यहाँ से ले जाए। पर जल्दी ही वह अपना यह अनुरोध भी भूल जाता, अनमना-सा माँ को नमस्ते करता और इतना तक न पूछता कि वह फिर कब आएगी। नादेभदा यह सोचकर दुखी होती कि उसके एक ही बेटा है, और वह भी भोंदू है।

पेट्का को कुछ पता नहीं था कि वह कितने दिनों तक यों ही जीता रहा। एक दिन दोपहर के खाने के समय माँ आई, उसने ओसिप अब्रामविच से बातें कीं और बेटे से कहा कि उसे दाचा\* जाने की छुट्टी मिल गयी है। यह दाचा त्सरीत्सिनो\*\* में था और वहाँ नादेभदा के मालिक रहते थे। पहले तो पेट्का कुछ समझा नहीं पर फिर निश्शब्द

\* शहर के बाहर रमणीय ग्रामीण इलाके में स्थित घर, जहाँ नगरवासी गर्मियों में रहते और आराम करते हैं। - अनु०

\*\* मास्को में थोड़ी दूर स्थित एक सुन्दर स्थल। 1775-1785 में जहाँ एक महल बनाया गया था। 1785 में जारनी येकातेरीना द्वितीया ने पहला महल तोड़कर नया बनाने का आदेश दिया। नये महल का निर्माण पूरा नहीं हुआ और अब यहाँ खण्डहर ही बचे हुए हैं। सं०



हँसी से उसका चेहरा बारीक-बारीक झुर्रियों से भर गया और वह माँ से जल्दी करने को कहने लगा। नादेभदा को अभी शिष्टाचार के नाते ओसिप अब्रामविच से उसकी पत्नी का हालचाल पूछना था, पर पेट्का उसे धीरे-धीरे दरवाज़े की ओर धकेल रहा था और बाँह खींच रहा था। वह नहीं जानता था कि यह दाचा क्या होता है, पर उसका ख्याल था कि यह वही जगह है, जहाँ जाने का उसका इतना मन था। अपनी खुशी में वह निकोल्का को भूल ही गया। निकोल्का जेबों में हाथ डाले पास ही खड़ा था और सदा की तरह ठिठाई से नादेभदा की ओर देखने की कोशिश कर रहा था। पर उसकी आँखों में ठिठाई की जगह गहरा विषाद था : उसके माँ थी ही नहीं, और इस क्षण वह इस मोटी नादेभदा जैसी औरत को भी माँ मानने को तैयार था। बात यह थी कि वह भी कभी दाचा नहीं गया था।

स्टेशन पर खूब चहल-पहल और भीड़-भड़क्का था। आती-जाती रेलगाड़ियाँ घड़घड़ा रही थीं, इंजन सीटियाँ बजा रहे थे—किसी की आवाज़ ओसिप अब्रामविच जैसी भारी और गुस्से भरी थी और किसी को उसकी बीमार पत्नी जैसी चिचियाती हुई और पतली। सवारियाँ उतावली-सी और इधर-उधर आ जा रही थीं, लगता था उनका यह सिलसिला कभी खत्म ही न होगा। पेट्का यह सब आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था—वह पहली बार स्टेशन पर आया था। उसके मन में एक विचित्र अधीरता और अकुलाहट भर रही थी। माँ को और उसे भी डर लग रहा था कि कहीं गाड़ी छूट न जाए, हालाँकि गाड़ी जाने में अभी आधे घंटे से भी ज़्यादा समय था। आखिर जब वे डिब्बे में बैठ गए और गाड़ी चल दी, तो पेट्का खिड़की से चिपक गया। बस उसका मुड़ा हुआ सिर ही पतली गर्दन पर इधर-उधर घूम रहा था, मानो वह लोहे के स्प्रिंग पर लगा हुआ हो।

पेट्का का जन्म शहर में हुआ था और वही पर वह बड़ा हुआ। ज़िंदगी में पहली बार वह खेत-मैदान देख रहा था और यहाँ सब कुछ उसके लिए नया, आश्चर्यजनक और अजीब था। यहाँ चारों ओर इतनी दूर-दूर तक दिखाई देता था, जंगल घास जैसा लगता था और आसमान भी इस नए संसार में इतना साफ़ और इतना बड़ा था, मानो





वह छत पर चढ़कर उसे देख रहा हो। पेट्का अपनी ओर से उसे देख रहा था और जब वह माँ की ओर सिर मोड़ता, तो सामने की खिड़की से भी उसे नीला आकाश नज़र आता और उस पर तैरते सफ़ेद बादल दिखते। पेट्का कभी अपनी खिड़की के पास कुलबुलाता रहता, कभी भागकर डिब्बे के दूसरी ओर चला जाता, सहज भाव से अपना जैसे-तैसे धोया हाथ दूसरे मुसाफ़िरों के घुटनों और कंधों पर रखता जाता और वे जवाब में मुस्करा देते। एक साहब ने, जो अख़बार पढ़ रहा था और न जाने बेहद थके होने के कारण या ऊब के मारे बराबर जँभाइयाँ ले रहा था, दो-एक बार लड़के की ओर तिरछी नज़रों से देखा। नादेभदा फ़ौरन माफ़ी माँगने लगी :

“पहली बार गाड़ी पर जा रहा है न... सब कुछ नया है इसके लिए...”

“हूँ,” साहब ने बुदबुदा कर नज़रें अख़बार में गाड़ लीं।

नादेभदा का बड़ा मन था कि उसे यह बताए कि पेट्का तीन साल से नाई की दुकान पर काम कर रहा है और नाई ने उसे अपने पैरों पर खड़ा करने का वायदा किया है और यह बहुत ही अच्छा होगा, क्योंकि वह अबला बिल्कुल अकेली है और उसका बीमारी में या बुढ़ापे में यही एक सहारा है। पर साहब का चेहरा सख़्ती भरा



था और नादेभदा ने यह सब मन ही मन कह डाला।

रास्ते के दाईं ओर छोटे-छोटे ढूहों वाला मैदान था, जो नमी की वजह से गाढ़े हरे रंग का था। उसके सिरे पर मटमैले से मकान बने हुए थे, दूर से वे खिलौनों जैसे लगते थे। आगे ऊँचे, हरे टीले पर, जिसके नीचे रजत जल धारा चमकमा रही थी, खिलौने सा ही सफ़ेद गिरजा बना हुआ था।

जब रेलगाड़ी अचानक तेज़ हो गयी घड़घड़ाहट के साथ पुल पर चढ़ गई और मानो दर्पण सी नदी के ऊपर हवा में टंग गई, तो पेट्का सहसा डर के मारे काँप उठा और झटककर खिड़की से पीछे हट गया, लेकिन पल भर में ही फिर खिड़की के पास जा पहुँचा, कि कहीं रास्ते का कोई नज़ारा उसकी नज़रों से बचा न रह जाए। पेट्का की आँखों में अब उर्नीदापन न रहा था और झुर्रियाँ भी गायब हो गई थीं, मानो किसी ने इस चेहरे पर गर्म इस्तरी फेरकर झुर्रियाँ दूर कर दी हों और उसे सफ़ेद व चमकीला बना दिया हो।

दाचा पर पहले दो दिन तो पेट्का को जंगल से डर लगता रहा, जो उसके सिर के ऊपर धीर-गम्भीर सा शोर करता था। अँधेरा जंगल विचारमग्न सा और भयावह लगता था। जंगल के बीच में छोटे-छोटे हरे-भरे मैदान मानो अपने चटकीले फूलों में हँसते थे, गाते थे और पेट्का को बड़े अच्छे लगते थे, वह उन्हें सहलाना चाहता था। गाढ़ा नीला आकाश उसे अपनी ओर बुलाता, मुस्कराता लगता था। पेट्का उद्विग्न हो उठता, काँपता, पीला पड़ जाता और मुस्कराने लगता। बूढ़ों की तरह धीरे-धीरे चलता हुआ वह जंगल के बाहर-बाहर और तालाब के झाड़ीदार किनारे पर घूमता रहता। यही पर वह थककर घनी नम घास पर गिर पड़ता और उसमें समा जाता, बस उसकी छोटी सी चित्तीदार नाक हरी सतह के ऊपर निकली होती। पहले दिनों में वह अक्सर माँ के पास लौट आता था, उसका दामन पकड़ता रहता था और जब साहब उससे पूछते कि क्या दाचा पर उसे अच्छा लग रहा है, तो वह सकपका जाता और मुस्कराता हुआ सिर हिला देता।

और फिर वह विकट वन तथा शान्त जल की ओर चला जाता। वहाँ घूमता हुआ



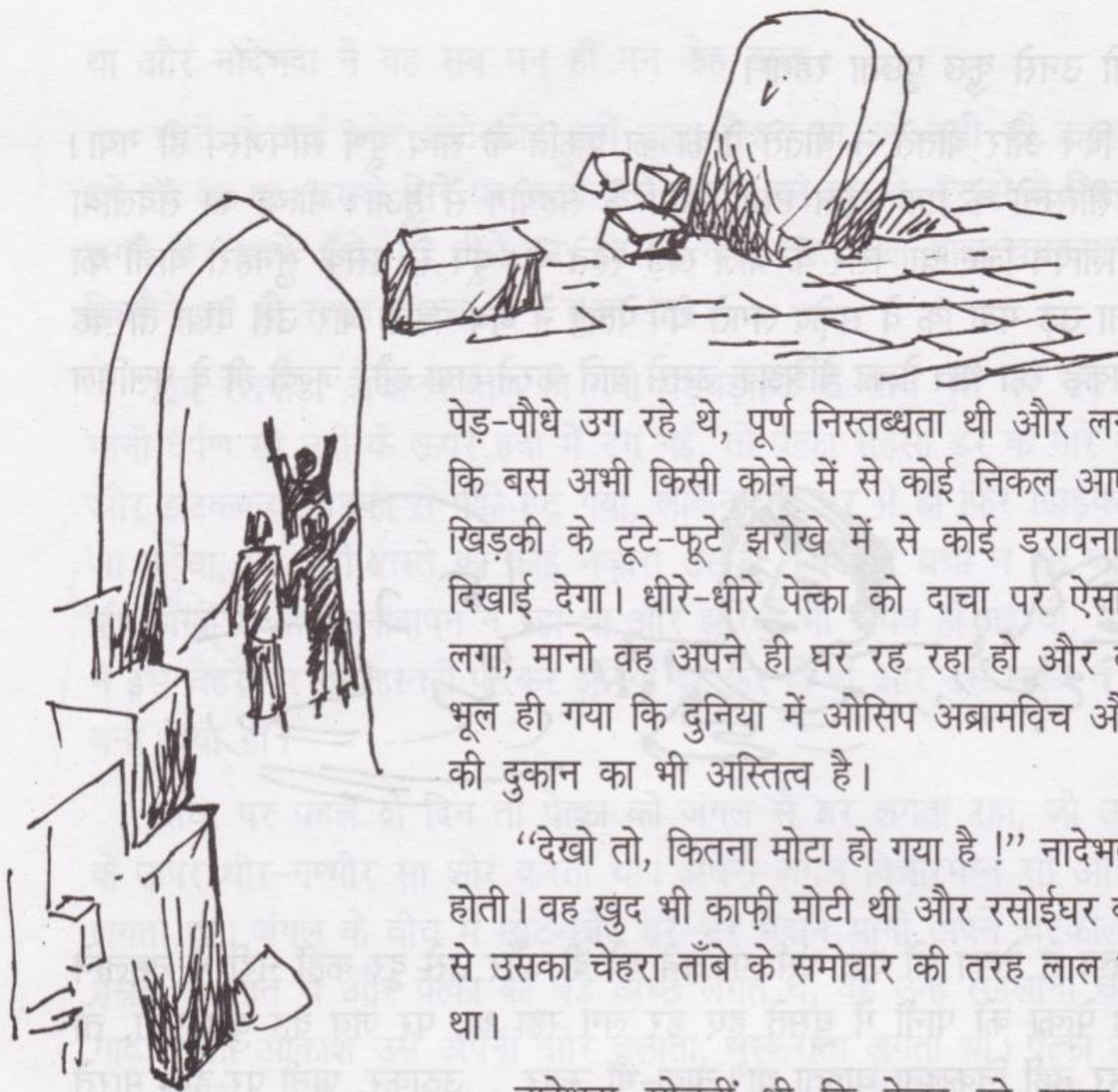
वह मानो उनसे कुछ पूछता रहता।

दो दिन और बीतते न बीतते पेट्का का प्रकृति के साथ पूर्ण सामंजस्य हो गया। ऐसा त्सरीत्सिनो के एक स्कूल छात्र मीत्या के सहयोग से हुआ। मीत्या का सँवलाया चेहरा पीलापन लिए था, सिर के बाल खड़े रहते थे। धूप से उसके सुनहरी बालों का रंग इतना उड़ गया कि वे सफ़ेद लगते थे। पेट्का ने जब पहली बार उसे देखा तो वह मछली पकड़ रहा था। पेट्का बेझिझक उससे बातें करने लगा और जल्दी ही वे घुलमिल



गए। मीत्या ने पेट्का को एक बंसी पकड़ने को दी और उसे दूर कहीं नदी में नहलाने ले गया। पेट्का को पानी में घुसते हुए डर लग रहा था, पर जब वह घुस गया, तो फिर बाहर नहीं निकलना चाहता था। नाक-भौं ऊपर उठाकर, पानी पर हाथ मारते हुए वह ऐसे दिखा रहा था, मानो तैर रहा हो। इन क्षणों में वह बिल्कुल ऐसा पिल्ला रहा था, जो पहली बार पानी में घुसा हो। आखिर जब पेट्का ने कपड़े पहने तो उसका बदन ठंड से नीला पड़ गया था और दाँत किटकिटा रहे थे। मीत्या को हमेशा कुछ न कुछ सूझता रहता था। उसी के सुझाव पर वे महल के खंडहर देखने गए। महल की छत पर चढ़ गए, जहाँ बहुत सारे पेड़ उग आए थे, विशाल महल की ढह गई दीवारों के बीच घूमते रहे। वहाँ उन्हें बहुत अच्छा लग रहा था : जगह-जगह पर पत्थरों के ढेर लगे हुए थे, जिन पर मुश्किल से चढ़ा जा सकता था और उनके बीच



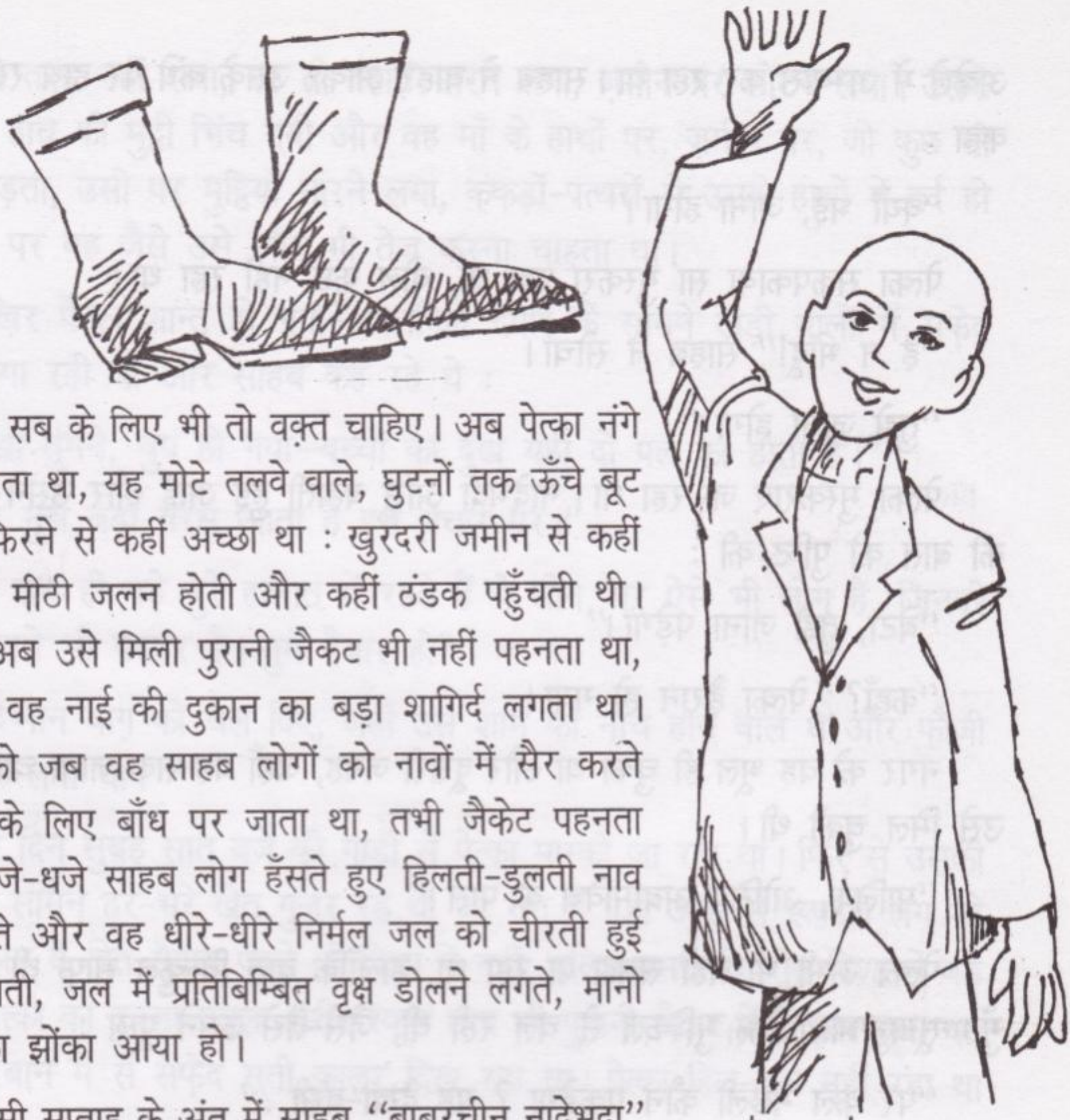


पेड़-पौधे उग रहे थे, पूर्ण निस्तब्धता थी और लगता था कि बस अभी किसी कोने में से कोई निकल आएगा या खिड़की के टूटे-फूटे झरोखे में से कोई डरावना चेहरा दिखाई देगा। धीरे-धीरे पेटका को दाचा पर ऐसा लगने लगा, मानो वह अपने ही घर रह रहा हो और वह यह भूल ही गया कि दुनिया में ओसिप अब्रामविच और नाई की दुकान का भी अस्तित्व है।

“देखो तो, कितना मोटा हो गया है !” नादेभदा खुश होती। वह खुद भी काफी मोटी थी और रसोईघर की गर्मी से उसका चेहरा ताँबे के समोवार की तरह लाल हो गया था।

नादेभदा सोचतीं थी कि पेटका को खाना अच्छा मिलता है। परन्तु वास्तव में पेटका बहुत कम ही खाता था इसलिए नहीं कि उसे भूख नहीं लगती थी, बल्कि इसलिए कि कौन इतना झंझट करे : अगर चबाए बिना ही खाना निगला जा सकता, तो बात और थी, पर यहाँ तो चबाना पड़ता था और बीच-बीच में खाली बैठे टाँगे हिलानी पड़ती थीं, क्योंकि नादेभदा बहुत ही धीरे-धीरे खाना खाती थी, हड्डियाँ चूसती थी, एप्रन से मुँह पोंछती थी और बेकार की बातें करती जाती थी। उधर पेटका को न जाने कितने काम थे : पाँच बार तो नहाने जाना चाहिए, फिर झाड़ियों से बंसी के लिए डंडियाँ काटनी होती हैं, केंचुए ढूँढ़ने होते





हैं—इस सब के लिए भी तो वक्त चाहिए। अब पेट्का नंगे पैर घूमता था, यह मोटे तलवे वाले, घुटनों तक ऊँचे बूट पहने फिरने से कहीं अच्छा था : खुरदरी जमीन से कहीं पैरों में मीठी जलन होती और कहीं ठंडक पहुँचती थी। पेट्का अब उसे मिली पुरानी जैकट भी नहीं पहनता था, जिसमें वह नाई की दुकान का बड़ा शागिर्द लगता था। शाम को जब वह साहब लोगों को नावों में सैर करते देखने के लिए बाँध पर जाता था, तभी जैकेट पहनता था। सजे-धजे साहब लोग हँसते हुए हिलती-डुलती नाव में बैठते और वह धीरे-धीरे निर्मल जल को चीरती हुई बढ़ जाती, जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष डोलने लगते, मानो हवा का झोंका आया हो।

उसी सप्ताह के अंत में साहब “बाबरचीन नादेभदा” के नाम पत्र लाए और जब उन्होंने उसे पढ़कर सुनाया तो वह रोने लगी और एप्रन पर लगी कालिख सारे चेहरे पर पोत ली। इस सबके साथ ही उसके मुँह से निकले कुछ शब्दों से यह अनुमान लगाया जा सकता था कि चर्चा पेट्का की है। यह सब संध्या समय हुआ। पेट्का पीछे के आंगन में इक्कल-दुक्कल खेल रहा था और गाल फुला रहा था, क्योंकि इस तरह कूदना काफी आसान लगता था। स्कूल छात्र मीत्या ने उसे यह निकम्मा, पर दिलचस्प खेल सिखाया था, और अब पेट्का पक्के खिलाड़ी की तरह



अकेले में अभ्यास कर रहा था। साहब ने बाहर आकर उसके कंधे पर हाथ रखा और कहा :

“क्यों भई, जाना होगा।”

पेत्का सकपकाया सा मुस्करा रहा था, बोल कुछ नहीं रहा था।

“है न भोंदू!” साहब ने सोचा।

“तुझे जाना होगा।”

पेत्का मुस्कराए जा रहा था। नादेभदा आँसू बहाती हुई आई और उसने मालिक की बात की पुष्टि की :

“बेटा, तुझे जाना पड़ेगा।”

“कहाँ?” पेत्का हैरान हो गया।

नगर को वह भूल ही चुका था और दूसरी जगह, जहाँ वह सदा जाना चाहता था, उसे मिल चुकी थी।

“मालिक, ओसिप अब्रामविच के पास।”

पेत्का अभी भी नहीं समझ पा रहा था, हालाँकि बात बिल्कुल साफ़ थी। उसका मुँह सूख गया, जीभ मुश्किल से चल रही थी, जैसे-तैसे उसने पूछा :

“पर कल मछली कौन पकड़ेगा ? यह देखा-बंसी...”

“क्या किया जाए !.. ओसिप अब्रामविच का हुक्म है। कहते हैं प्रकोपी बीमार पड़ गया, अस्पताल में दाखिल किया है उसे, काम करने वाला कोई नहीं। तू रो मत, शायद फिर छुट्टी दे दे—आदमी तो भला है ओसिप अब्रामविच।”

पर पेत्का रोने की सोच ही नहीं रहा था, वह कुछ समझ नहीं पा रहा था। फिर धीरे-धीरे पेत्का के दिमाग में सारी बात साफ़ होने लगी। और तब उसने माँ को आश्चर्यचकित कर दिया, मालिकों को परेशानी में डाल दिया : वह दुबले- पतले शहरी



बच्चों की तरह नहीं रोया, वह तो दहाड़ें मारने लगा, ज़मीन पर लोटने लगा। उसके पतले से हाथ की मुट्ठी भिंच गयी और वह माँ के हाथों पर, ज़मीन पर, जो कुछ भी सामने पड़ता, उसी पर मुट्ठियाँ मारने लगा, कंकड़ों-पत्थरों से उसके हाथों में दर्द हो रहा था, पर वह जैसे उसे और भी तेज करना चाहता था।

आखिर पेट्का शान्त हो गया। मालकिन दर्पण के सामने खड़ी बालों में सफ़ेद गुलाब लगा रही थीं और साहब कह रहे थे :

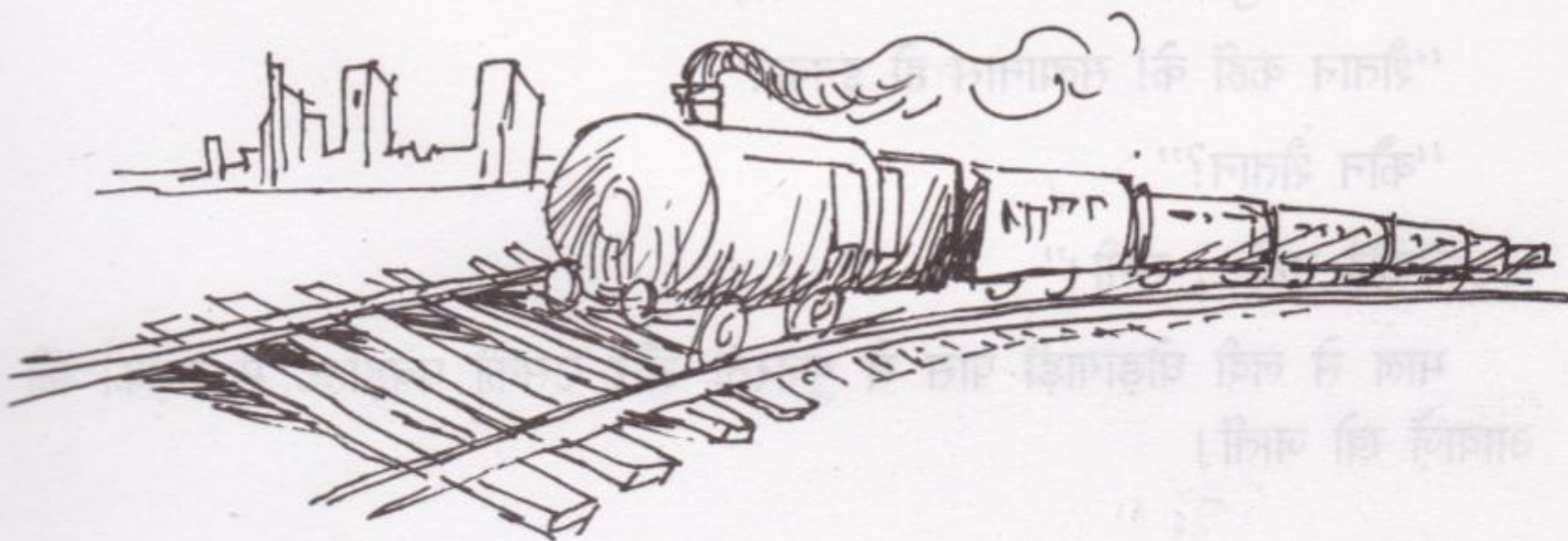
“देखा तुमने, चुप हो गया—बच्चों का दुख यही दो पल का होता है।”

“पर मुझे बड़ा तरस आता है इस बेचारे पर।”

“हाँ सच ही बड़े बुरे हालात में रहते हैं ये लोग, पर ऐसे भी लोग हैं, जिनकी जिंदगी इनसे भी बदतर है। तुम तैयार हो?”

वे दिम्पान बाग़ को चल दिए, जहाँ उस शाम को नाच होने वाले थे और फौजी बैंड बजने लगा था।

दूसरे दिन सुबह सात बजे की गाड़ी से पेट्का मास्को जा रहा था। फिर से उसकी आँखों के सामने हरे-भरे खेत गुज़र रहे थे, जो रात में पड़ी ओस से रूपहले लग रहे थे। पर अब ये खेत-मैदान पहले की दिशा में नहीं, बल्कि उससे विपरीत दिशा में बढ़ रहे थे। पेट्का का दुबला-पतला शरीर स्कूल छात्र की पुरानी जैकट में लिपटा हुआ था, उसके गरेबान में से सफ़ेद सूती कालर दिख रहा था। पेट्का हिल-डुल नहीं रहा था





और खिड़की में भी प्रायः नहीं देख रहा था। वह चुपचाप बैठा हुआ था—पतले-पतले हाथ घुटनों पर रखे हुए थे। आँखें उनींदी और उदासीन थीं, आँखों के पास और नाक तले बारीक-बारीक झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। खिड़की के पास से खंभे और प्लेटफार्म की कड़ियाँ गुज़रीं और फिर गाड़ी रुक गयी।

उतावले मुसाफिरों के बीच धक्का-मुक्की करते वे गड़गड़ाती सड़क पर निकले और विराट भूखे शहर ने अनमने भाव से अपने नन्हे शिकार को हड़प लिया।

“मेरी बंसी छिपा देना !” माँ जब उसे नाई की दुकान तक ले आई, तो पेट्का बोला।

“छिपा दूँगी, बेटा, छिपा दूँगी। देखो, फिर आ ही जाए तू।”

फिर से गंदी और उमस भरी नाई की दुकान में कर्कश चीख गूँजती : “छोकरे, पानी!” और ग्राहक देखता कि शीशे की ओर मैला-सा हाथ बढ़ता और साथ ही उसे धमकी भरी बुदबुदाहट सुनाई देती : “जरा ठहर, बच्चू!” इसका मतलब यह होता कि उनींदे छोकरे ने पानी बिखेर दिया या हुक्म ठीक से नहीं समझा। रात को जहाँ निकोल्का और पेट्का पास-पास सोते थे, एक पतली सी, मंद-मंद, उद्विग्न आवाज़ दाचा के बारे में बताती, ऐसी-ऐसी बातें सुनाती, जो कभी नहीं होतीं, जैसी किसी न कभी देखा ही नहीं और न सुना ही है। फिर चुप्पी छा जाती और सन्नाटे में बाल छतियों से निकलती उखड़ी-उखड़ी साँसें सुनाई देतीं और एक दूसरी आवाज़, जो बच्चे की होते हुए भी रूखी और तीखी थी, कहती :

“शैतान कहीं के! सत्यानास हो इनका!”

“कौन शैतान?”

“कोई नहीं... सभी।”

माल से लदी घोड़ागाड़ी पास से गुजरती और उसकी घबड़ाहट में लड़कों की आवाज़ें खो जातीं।





लेओनीद अन्द्रेयेव  
1871-1919



कृनुशग ट्रस्ट